"धम्मपद एवं उत्तराध्ययनसूत्र के आधार पर पुण्य–पाप की अवधारणा"

कन्हैया लाल चौधरी
शोध छात्र–इतिहास विभाग
भगवंत विश्वविघालय,
अजमेर (राजस्थान)

डॉ0 दिनेश मण्डोत
इतिहास विभाग
भगवंत विश्वविघालय
अजमेर(राजस्थान)

सारांश– जैन–बौद्ध धर्म दोनो ही मनुष्य को अच्छे कार्यो का प्रतिफल पुण्य व बुरे कार्यो का प्रतिफल पाप की चर्चा करते है। धम्मपद में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि "पाप (बुरे कार्य)" का न करना श्रेष्ठ है। पाप–कार्य पीछे दुःख देता है, पुण्य कार्य करना श्रेष्ठ है, जिसे करके मनुष्य दुःखी नही होता।

महत्वपूर्णशब्द – पुण्य, पाप, निर्जरा, मुक्ति, शुभ, अशुभ।

पुण्य मनुष्य के चरित्र की श्रेष्ठता का सूचक है। इसके विपरीत पाप चरित्र के नैतिक पतन का चिन्ह है।[1] इच्छापूर्वक कर्त्तव्य–पालन अथवा सत्कर्म से मनुष्य के चरित्र के नैतिक उत्कर्ष मे वृद्धि ही पुण्य है। नैतिक नियमो के उल्लंघन अथवा असत्कर्म से व्यक्ति के चरित्र से सम्बद्ध नैतिक मूल्य का क्षय ही पाप है। पुण्य कर्त्तव्य–पालन करके अर्जित नैतिक योग्यता है। जब व्यक्ति कर्त्तव्य से मुह मोडता है। तब उसकी नैतिक योग्यता का ह्रास होता है। नैतिक योग्यता के इस क्षय को पाप कहा जाता है। धम्मपद में कहा गया है "पाप–कार्य का न करना श्रेष्ठ है। पाप कार्य पीछे दुःख देता है, पुण्य कार्य करना श्रेष्ठ है, जिसे कर मनुष्य दुःखी नही होता है।"[2] पुण्य एवं पाप चरित्र से सम्बद्ध है। पुण्य भावात्मक नैतिक योग्यता है, जबकि पाप निषेधात्मक। पाप–पुण्य का अभाव नहीं है। पुण्य के अभाव का अर्थ है कि व्यक्ति ने जो कर्म किया है वह न सत् और न असत्। जब व्यक्ति का आचरण नैतिक आदर्श के अनुकूल होता है। तब वह पुण्य होता है। किन्तु जब नैतिक आदर्श के पुतिकूल होता है तब पाप होता है। धम्मपद का कथन है कि जिसका किया हुआ पाप कर्म पुण्यकर्म से ढँक जाता है, वह इस लोक को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे कि बादलो से निकला हुआ चन्द्रमा।[3] अतः पुण्य चरित्र के उत्कर्ष का एवं पाप से चरित्र के क्षय का संकेत मिलता है।

पुण्य एवं पाप की विभिन्न श्रेणियाँ है। व्यक्ति के नैतिक एवं अनैतिक कर्म के अनुपात में ही उसकी नैतिक योग्यता की वृद्धि अथवा उसका क्षय होता है। व्यक्ति की नैतिक योग्यता की वृद्धि जब अधिक होती है तब वह अधिक पुण्य अर्जित करता है। इसके विपरीत व्यक्ति की नैतिक योग्यता में ह्रास भी होता है। जिससे पाप की मात्राओं का संकेत मिलता है। धम्मपद मे कहा गया है कि पापकर्म करने वाला इस लोक में दुःखी होता है एवं परलोक में जाकर भी अर्थात वह दोनो ही लोको में दुःखी होता है। वह अपने कुत्सित कर्म को देखकर शोक करता है एवं दुःखित होता है।[4] जब कि पुण्यकर्म करने वाला इस लोक में प्रसन्न रहता है। एवं परलोक में जाकर भी अर्थात वह दोनों लोकों में आनन्दित होता है एवं प्रमाद करता है।[5] धम्मपद भी नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य एवं पाप दोनो से ऊपर की बात करता है। इस प्रकार वह भी समान विचारो का प्रतिपादन करता है।

धम्मपद में भगवान बुद्ध कहते है कि यदि मनुष्य पाप करता है तो उसे बार–बार न करे, उस पाप में स्वच्छन्दतापूर्वक रत न होवे, क्योंकि पाप का संचय दुःख कारी होता है।[6] वह राख से ढँकी हुई अग्नि के समान मूर्ख को जलाता हुआ उसका पीछा करता है।[7] इसलिए मनुष्य कल्याणकारी कार्य करने के लिए शीघ्रता करे एवं पाप से चित्त को निवारण करे क्योंकि पाप का संचय दुःखकारी लेकिन पुण्य का संचय सुखकारी होता है।[8] इस प्रकार बौद्ध–दर्शन का अन्तिम लक्ष्य शुभ एवं अशुभ से ऊपर उठना है।

बौद्ध लोग भी पुण्य एवं पाप में विश्वास करते थे। वे पूर्णरूप से कर्मवादी थे। उनकी दृढ धारणा थी कि जो जैसा कर्म करता है। उसे दूसरे जन्म में वैसे ही फल मिलते है। उन फलो की प्राप्ति से किसी को मुक्ति नही हो सकती है।

धम्मपद में कहा गया है कि जब तक पाप का फल नहीं मिलता है तब से पाप दिखाई पडने लगते है।[9] अतएव बुरे कर्म का फल बुरा होना स्वभाविक ही नही, उनकी दृष्टि में अनिवार्य भी है। इस प्रकार अच्छे कर्मो का फल अच्छा होता है। धम्मपद के अनुसार जब तक पुण्य का फल नहीं मिलता तब तक पुण्यात्मा भी पुण्य को बुरा समझता है, किन्तु जब पुण्य का फल मिलता है, तब उसे पुण्य दिखाई पडने लगते है।[10] जैन–दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियाऐ समान रूप से बन्धन कारक नही है। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये है एक को कर्म एवं दूसरे को अकर्म कहा गया है। समस्त साम्प्रदायिक क्रियाऐ कर्म की कोटि में आती है। ईर्यापथिक क्रियाऐ अकर्म की कोटि में आती है। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही नैतिकता के क्षेत्र में आते है। एवं दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र में आने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते है।[11] उनमें से कुछ शुभ एवं कुछ अशुभ होते है। जैन–परिभाषा मे इन्हे क्रमशः पुण्यकर्म एवं पापकर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन–दर्शन का पुण्यकर्म नैतिक कर्म है एवं पापकर्म अनैतिक कर्म है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार तत्व 9 है जिनमें पुण्य एवं पाप स्वतंत्र तत्व है। तत्वार्थसूत्र में पुण्य एवं पाप को नही गिनाया गया है। लेकिन यह विवाद महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्व नहीं मानती है। वह भी उनको आस्रव तत्व के अन्तर्गत मान लेती है।[12] यद्यपि पुण्य एवं पाप मात्र आस्रव नही है वरन उनका बन्ध एवं विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव एवं अशुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नही बनता, बल्कि बन्ध एवं विपाक में भी दो–दो भेद करने होगें। इस कठिनाई से बचने के लिए भी पुण्य एवं पाप को स्वतंत्र तत्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन–विचारणा निर्वाण–मार्ग के साधक के लिए दोनो को हेय एवं त्याज्य मानती है क्योंकि दोनो ही बन्धन के कारण है। अतएव नैतिक जीवन की पूर्णता पुण्य–पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ(पुण्य) एवं अशुभ(पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नही आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ से ऊपर उठकर शुभ दशा में स्थित हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है कि असत् प्ररूपणा एवं हिंसा आदि पापकर्म में प्रवृत्ति इन दोनो का फल नरक की प्राप्ति है। परन्तु जो जीव असत् प्ररूपणा एवं हिंसा आदि पापकर्म से पराङमुख होकर श्रुतचारित्ररूप आर्यधर्म का आराधन करते है, वे देवलोक में जाते हैं।[13]

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है एवं मन, शरीर एवं बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना पुण्य का कार्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि इस अशाश्वत जीवन में पुण्य को न करने वाला जीव मृत्यु के निकट पहँचा हुआ बडा सोच करता है कि अहो। मैनें कोई पुण्योपार्जन नहीं किया एवं मृत्य के परलोक में पहुँच कर अभीष्ट सुख की प्राप्ति न करके पुनः परम दुःखी होता है कि अहो, मैंने कोई सत्कर्म किया होता तो इस जन्म में सुखी होता।[14]

नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते है, पापकर्म है। सामान्य तौर की दृष्टि से जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के दुर्विचार एवं दुर्भावनाएँ भी पापकर्म है। उत्तराध्ययन में कहा गया है। कि जो पुरूष औद्देशिक क्रीतकृत नित्यपिंड एवं अनेषणीय आहार लेने अथवा खाने में किसी प्रकार का भी संकोच नही करता किन्तु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन रहा है, वह पुरुष पापकर्म का आचरण करता हुआ यहाँ से मरकर नरकादि अशुभ गतियों को प्राप्त होता है।[15]

पुण्य एवं पाप की इस सैद्धान्तिक अवधारणा के आधार पर आचार्यो ने शरीर, वचन, एवं मन की प्रवृत्तियों को शुभ एवं अशुभ के रुप में वर्गीकृत किया और उन्हें पुण्य या पापबन्ध का कारण कहा।

भगवान महावीर ने कहा है कि पुण्य एवं पाप इन दोनो के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ एवं अशुभ कर्मो के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है। [16]

इस प्रकार धम्मपद एवं उत्तराध्ययनसूत्र के आधार पर पुण्य एवं पाप का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है। कि बौद्ध–दर्शन में राग–द्वेष एवं मोह से युक्त होने पर ही कर्म को बन्धन कारक माना जाता है, एवं राग–द्वेष एवं मोह से रहित कर्म को बन्धनकारक नहीं मानता है, ऐसे कर्मो को अकृष्ण–अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है। जबकि जैन–दर्शन के अनुसार जो क्रिया–व्यापार, राग–द्वेष एवं मोह से युक्त होता है वह बन्धन में डालता है इसलिए वह कर्म है जो क्रिया –व्यापार राग–द्वेष एवं मोह से रहित होकर कर्त्तव्य या शरीर–निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण नहीं

है अतः अकर्म है। जिन्हें जैन–दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध–परम्परा अनुपचित अव्यक्त या अकृष्ण–अशुक्ल कर्म कहती है एवं जिन्हें जैन–परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है उन्हें बौद्ध–परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण–शुक्ल कर्म कहती है। इसके अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन–दर्शन में पुण्यविषयक विशेष अन्तर यह है कि जैन–दर्शन मे संवर, निर्जरा एवं पुण्य में अन्तर किया गया है, किन्तु बौद्ध–दर्शन में ऐसा स्पष्ट अन्तर नही है।

संदर्भ :–

1 नीतिशास्त्र का समीक्षात्मक अध्ययन, गुलाम मुहम्मद याह्य खॉ, पृ0 58

2. धम्मपद, 314

3. धम्मपद, गाथा–संख्या, 173

4. जैन –बौद्ध एवं गीता के आचार–दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 1, पृ0 336

5. वही, 16,18।

6. वही, 117

7. वही, 71

8. धम्मपद, 118

9. जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार–दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग 1, पृ• 335

10. धम्मपद, 120, 122

11. वही, 67

12. वही, 68

13. उत्पराध्ययनसूत्र, 18। 25

14. वही, 13। 21 एवं जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 1, पृ• 333–341

15. उत्तराध्ययनसूत्र 20 । 47

16. उत्तराध्ययनसूत्र 21 । 24